बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श की आंतरिक आलोचना

नरेश गोस्वामी

I

अभय कुमार दुबे की यह किताब ऐसे वक़्त पर आयी है जब भारत की बाहरी और आत्मगत पहचान के परिचित चिह्न अपनी धुरी से दक्षिणावर्त्त खिसकते जा रहे हैं। मसलन, आज स्वाधीनता-संघर्ष की प्रक्रिया में अर्जित समता, सहअस्तित्व, सहिष्णुता और बंधुत्व जैसे मूल्य हाँफते नज़र आते हैं। राजनीति समाज के बृहत्तर सामाजिक कल्याण का सरोकार तज कर चुनाव का पूर्व-प्रबंधित गणित बन चुकी है। धर्म को राजनीति से दूर रखने का संवैधानिक विचार असंदिग्ध रूप से भुलाया जा चुका है। इसी तरह, सामाजिक न्याय का उदात्त आदर्श उसी के पैरोकार राजनीतिज्ञों की लूट-खसोट, भ्रष्ट आचरण, सम्पत्ति-अर्जन, परिवार और कुनबापरस्ती के कारण एक जुगुप्सा में बदल चुका है। अर्थव्यवस्था के सूचकांक औंधे पड़े हुए हैं। मीडिया पुराने कंकालों पर रंग-रोगन करके उनसे इतिहास और समाज की व्याख्या करवा रहा है। जो गर्हित, अशुभ और त्याज्य माना जाता था, वह राजनीति और समाज का नीति-निर्देशक बन बैठा है। हालत यह हो गयी है कि राजनीति के उद्यमियों और अपराधियों की भाषा में अंतर करना मुश्किल होता जा रहा है। लोकतंत्र बहुसंख्यकवाद में अपघटित हो गया है। सत्ता की नृशंस कारगुज़ारियों का न्यूनतम प्रतिरोध भी राष्ट्रद्रोह कहलाने लगा है।

ऐसे असामान्य वक़्त और माहौल में लिखी गयी कोई भी ईमानदार किताब पुरानी आश्वस्तियों और निष्कर्षों का उलथा नहीं हो सकती। यह किताब भारत की राजनीति में पिछले दो दशकों के दौरान हुए अंत:स्फोट को हिंदुत्व बनाम सेकुलर-वामपंथी-उदारतावादी जैसे दो प्रतिस्पर्धी विमर्शों के ज़रिये समझने का प्रयत्न करती है। लेखक ने सेकुलर, वामपंथी और उदारतावादी शक्तियों के विमर्श को 'मध्यमार्गी' विमर्श कह कर सम्बोधित किया है। किताब का बुनियादी तर्क साफ़ और ऊँचे स्वर में कहता है कि मध्यमार्गी विमर्श से निकली राजनीति लोकतंत्र में बहुसंख्यकवाद के अंदेशों को पढ़ने और उसका प्रतिकार करने में नाकाम रही है। ज़ाहिर है कि यह कोई नया रहस्योद्घाटन नहीं है। दरअसल, किताब की विलक्षणता इस विफलता के कारणों की पड़ताल में लगे बौद्धिक श्रम— तथ्यान्वेषण, तर्क-योजना, समाज-वैज्ञानिक लेखन के सघन और आवश्यक ब्योरों, उद्धरणों के व्यापक उपयोग तथा आम सहमति के तहत वर्जित मान लिए गये परिप्रेक्ष्यों के पुनरीक्षण में निहित है।

लेखक का विश्लेषण बताता है कि संघ परिवार की वैचारिक प्रयोगशाला में हिंदू-एकता की व्यूह-रचना 1974 में तैयार होनी शुरू हो चुकी थी। तीन दशक तक यह व्यूह-रचना व्यावहारिक राजनीति में अपना मुक़ाम ढूँढ़ती रही। राज्यों के अलावा वह एकाधिक बार केंद्रीय सत्ता तक पहुँची, फिर उससे बाहर भी हुई। लेकिन 2004 में वह इस स्थिति में आ चुकी थी कि चुनाव में स्पष्ट पराजय के बावजूद उसे कांग्रेस से ज़्यादा हिंदू वोट मिले। कांग्रेस के दस वर्षीय शासन के दौरान संघ परिवार के कामकाज का अबाध गति से विस्तार होता रहा। केंद्र और कई राज्यों में ग़ैर-भाजपाई सरकारें बनीं

लेकिन राजनीतिक विमर्श लगातार बहुसंख्यकवादी होता चला गया। लेखक का स्पष्ट कहना है कि ग़ैर-भाजपा दलों की राजनीति और उसके सहायक-समर्थक बुद्धिजीवियों का विमर्शी हस्तक्षेप इस बहुसंख्यकवाद का मुक़ाबला करने में न केवल विफल रहा, बल्कि उसने इसे पानी भी दिया।

इस तरह, यह किताब संघ-भाजपा विरोधी विमर्श की प्रस्थापनागत सीमाओं और उसकी व्यावहारिक कमियों व विफलताओं का विश्लेषण करती है। लेखक अपने उद्यम को इस विमर्श की आंतरिक आलोचना के रूप में देखता है। लेकिन, ग़ौर से देखें तो लेखक ने मध्यमार्गी विमर्श का तख़्ता पलट दिया है। लेखक का तर्क है कि बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श के ऊपर ज्ञान की ख़ास तरह की राजनीति हावी रही है, जिसका बोदापन केवल इस बात में निहित नहीं है कि वह संघ परिवार की हिंदुत्ववादी परियोजना के बदलते ठिकानों और विन्यास का पता लगाने में अक्षम रही है, बल्कि उसका ज़्यादा संगीन दोष यह है कि उसने अपने ही उस हिस्से को मौन कर दिया है जो हिंदुत्व की प्रचलित समझ से हट कर कुछ अलग कहना चाहता है। इस प्रकार, हिंदुत्व की बहुसंख्यकवाद विरोधी राजनीति के मध्यमार्गी विमर्श को लेखक ने दो हिस्सों में विभाजित किया है। बकौल लेखक, इसमें एक हिस्सा मुखर है, जबकि दूसरे हिस्से को राजनीतिक सहीपन (पॉलिटिकल करेक्टनेस) के दबाव में उपेक्षित कर दिया गया है। मुखर हिस्से के साथ दिक़्क़त यह है कि वह 'अत्यधिक विचारधारात्मक होने के नाते तक़रीबन एक आस्था का रूप ले चुका है', और मौन हिस्से का संकट यह है कि 'समाज, संस्कृति और राजनीति की ज़मीन के कहीं अधिक निकट' तथा 'अधिक शोधपरक और तर्कसंगत समाज-वैज्ञानिकता से सम्पन्न' होने के बावजूद ताक पर रख दिया गया है।

राजनीतिक सहीपन से यहाँ लेखक का मंतव्य उस वर्चस्वी आग्रह से है जो अपने 'अनुकूल न बैठने वाली या उसके लिए थोड़ी भी दिक़्क़ततलब प्रत्येक वैचारिक संरचना को अपनी तार्किकता, सुसंगति और तथ्यात्मकता के बावजूद या तो ख़ारिज' कर देता है 'या अगर ख़ारिज करना मुश्किल हो तो उसे एक चालाक ख़ामोशी के तहत पृष्ठभूमि में' धकेल देता है। चूँकि लेखक के मुताबिक़ यह किताब विवादात्मक (पॉलिमिकल) शैली में लिखी गयी है, इसलिए उनकी दलीलों को सिलसिलेवार रखना ज़रूरी होगा। किताब के स्थापत्य का पहला स्तम्भ यह है कि ज्ञान की राजनीति का मध्यमार्गी विमर्श छह प्रकार की विसंगतियों से ग्रस्त रहा है।

एक, भारत में हिंदू बहुसंख्यक हैं लेकिन यह एक जनसंख्यामूलक तथ्य भर है; भारतीय सभ्यता एक सामासिक सभ्यता है जिसे पूरी तरह हिंदू सभ्यता कहना ग़लत होगा; हिंदू भिन्न-भिन्न अस्मिताओं से मिल कर बने हैं, और उनके बीच इतने अंतर्विरोध एवं विरोधाभास मौजूद हैं कि उनमें किसी समरूप चेतना की निशानदेही नहीं की जा सकती। लेखक इस धारणा को ख़ारिज करते हुए कहता है कि समय की दीर्घावधि में हिंदुओं की विविध अस्मिताओं के बीच एकरूपता का प्रसार हुआ है, किंतु बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श ऐसे अनुसंधानों पर अघोषित मौन आरोपित कर देता है।

दो, भारतीय समाज बहुत से छोटे-बड़े समुदायों का समुच्चय है जिसे किसी भी तरह की समरूपी और एकाश्मिक संरचना में नहीं ढाला जा सकता; भारत का यही बहुलतावाद हिंदुत्ववादी एकता में बाधा बनता रहा है, और उसकी यह भूमिका आगे भी जारी रहेगी। लेखक ने इस बिंदु का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि हिंदू या मुसलमानों की विशाल राजनीतिक एकताओं की सम्भावना का यह नकार बहुसंख्यकवाद के अंदेशों पर पर्दा डालने का काम करता है, क्योंकि इससे बहुलतावाद के राजनीतिक और सामाजिक पहलू गड्डमड्ड हो जाते हैं। इसके चलते बहुसंख्यकवाद के आलोचक यह देखना भूल जाते हैं कि सामाजिक बहुलतावाद को उसकी जगह जस का तस छोड़ते हुए भी राजनीतिक एकरूपता की परियोजना सफल हो सकती है।

तीन, भारतीय सेकुलरवाद मानता है कि उसकी पहली ज़िम्मेदारी अल्पसंख्यकों के अधिकारों और दूसरा दायित्व बहुलतावाद की रक्षा करना है। लेखक इस दलील का खण्डन करते हुए कहता है

कि यह स्वीकार करते ही हमारा सेकुलरवाद अल्पसंख्यकों के अधिकारों और बहुलतावाद का पर्याय बन जाता है, और इसका परिणाम यह होता है कि बहुसंख्यकवाद के आलोचक अल्पसंख्यक समुदायों, विशेष रूप से मुस्लिम समुदायों की विकृतियों पर सवाल करना छोड़ देते हैं। इस प्रवृत्ति का फ़ायदा हिंदुत्ववादी राजनीति को मिलता है। लेखक के अनुसार यह आस्था इसलिए भी अनिष्टकारी हो जाती है क्योंकि वह संविधान में उल्लिखित सर्वधर्मसमभाव को भारतीय सेकुलरवाद की अंतिम परिभाषा मान बैठती है, जबकि उसका अभिप्रेत यह है कि राज्य विभिन्न धर्मों से फ़ासला बना कर रखे। लेकिन धीरे-धीरे हुआ यह है कि भारतीय सेकुलरवाद बहुलतावाद का पर्याय बनता गया है। लेखक की दलील है कि सेकलुरवाद का यह अर्थ-संकुचन मुसलमान, सिख और ईसाई जैसे समुदायों को लोकतांत्रिक व्यवस्था की एकाश्म इकाइयों में बदल कर पूरे लोकतंत्र को ही 'समुदायों के लोकतंत्र' में तब्दील कर देता है।

इस सोच की व्यावहारिक निष्पत्ति 'सेकुलरवाद और साम्प्रदायिकता की समुदायगत परिभाषा' में निकलती है, और यहीं से वह भ्रामक नज़रिया प्रबल होने लगता है जिसके तहत कुछ समुदायों को सेकुलरवाद का और कुछ को साम्प्रदायिकता का वाहक घोषित कर दिया जाता है। मसलन, पिछले तीन दशकों में जिन द्विज समुदायों ने भाजपा को वोट दिया है उन्हें साम्प्रदायिकता का वाहक, जबकि पिछड़े और दलित समुदायों को सेकुलरवाद का पैरोकार मान लिया गया है। लेखक का कहना है कि यह एक विकट घालमेल है क्योंकि बहुलतावाद समुदायों और सांस्कृतिक विविधताओं की ओर इंगित करता है, जबकि एक सिद्धांत के रूप में सेकुलरवाद राज्य से समुदायों और धर्मों के प्रति तटस्थता बरतने का आग्रह करता है। इस घालमेल के कारण एक ओर तो मध्यमार्गी विमर्श धर्म के मामले में राज्य की दृढ़ तटस्थता की हिमायत नहीं कर पाता और दूसरे, उसे हिंदुत्ववादियों की तरफ़ से अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का आरोप झेलना पड़ता है।

चार, मध्यमार्गी विमर्श इस धारणा का शिकार हो गया है कि पारम्परिक रूप से उपेक्षित, वंचित, शोषित और दमित जातियाँ ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक क्रांतिकारी संघर्ष में जुटी हैं। इस धारणा के तहत हिंदू और द्विज होने को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया गया है। इसका असर यहाँ तक जाता है कि 'जैसे शूद्र (पिछड़ी) जातियाँ चातुर्वर्ण्य का हिस्सा न हो कर तीन सवर्ण जातियों के मुक़ाबले अवर्ण समाज का अंग हों।' ब्राह्मणवाद के विरुद्ध कथित तौर पर सन्नद्ध इन जातियों का विमर्श कुछ ऐसा दावा करना चाहता है कि कमज़ोर जातियाँ (विशेषकर पूर्व-अछूत अनुसूचित जातियाँ) हिंदू पहचान से बाहर जाने के लिए तैयार बैठी हैं। इस धारणा के पैरोकारों को लगता है कि इससे निकलने वाली राजनीति हिंदुत्व के प्रभाव और उसकी रणनीति को बेअसर करने की क्षमता रखती है। लेखक के अनुसार 'दुष्ट ब्राह्मणवाद' का यह विचार हिंदुत्व के आलोचकों के बीच इतना प्रभावशाली है कि वे इस धारणा के प्रभाव में विभिन्न हिंदू जातियों के बीच बन सकने वाली राजनीतिक एकता पर विचार करने की ज़हमत ही नहीं उठाना चाहते, जबकि इसके उलट वे हिंदू बहुसंख्यकवाद के ख़िलाफ़ वंचित, कमज़ोर जातियों तथा अल्पसंख्यकों की एक विशाल बहुजन एकता की कल्पना कर डालते हैं।

इस सिलसिले में पाँचवीं धारणा भारतीय उदारतावाद से वास्ता रखती है जिसके सिद्धांतकार यह मान कर चलते हैं कि भारत में लोकतंत्र का एक ऐसा संवैधानिक चुनावी तंत्र विकसित हो चुका है जिसमें किसी भी दल को राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए अपना अतिवाद छोड़ना पड़ता है। इस संबंध में बहुधा विभिन्न कम्युनिस्ट दलों और बहुजन समाज पार्टी का उदाहरण दिया जाता है। इसलिए उदारतावाद के सिद्धांतकारों को लगता है कि अंततः हिंदू राष्ट्रवाद की उग्रता भी इसी तरह ख़त्म हो जाएगी। लेकिन, लेखक का तर्क है कि इस धारणा और भारतीय बहुलतावाद का योगफल भारत में दिनोंदिन मज़बूत होते जाते बहुसंख्यकवाद को परास्त नहीं कर सकता। उसका कहना है कि पिछले पैंतीस सालों से केवल संघ परिवार ही नहीं, बल्कि लगभग सभी राजनीतिक दल अपनी-

अपनी तरह से बहुसंख्यकवादी राजनीति कर रहे हैं, और हमारा चुनावी लोकतंत्र इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का कोई तरीक़ा विकसित नहीं कर पाया है। इस धारणा का एक नकारात्मक प्रभाव यह हुआ है कि बहुसंख्यकवाद के अधिकांश आलोचक भाजपा की चुनावी हार के बाद निष्क्रिय हो जाते हैं। उन्हें यह तक ध्यान नहीं रहता कि हिंदुत्ववादी विकृतियाँ ग़ैर-भाजपाई सरकारों के शासन में बदस्तूर फलती-फूलती रहती हैं।

मध्यमार्गी विमर्श की छठी भ्रांत धारणा के रूप में लेखक ने वामपंथी, सेकुलर तथा उदारतावादी बौद्धिकता के उस उन्नासिक रवैये को चिह्नित किया है जो हिंदुत्ववादियों— ख़ास तौर पर संघ परिवार की बौद्धिकता को हीन और विचार करने लायक़ ही नहीं मानता। उसे धर्म से प्रभावित कोई भी राजनीतिक-सामाजिक कार्रवाई या उद्यम अकल्पनीय और अवांछनीय लगता है। वह नये समाज की रचना को मूलत: ग़ैर-धार्मिक— प्रगतिशील, आधुनिक, उदारतावादी, सेकुलर और समतामूलक परिप्रेक्ष्य में ही कल्पित करता है। लेखक के अनुसार 'यह मान्यता इतनी प्रभावशाली है कि इसके तहत ऐसी कोई भी बौद्धिकता भारतीय समाज के लिए बेकार मान ली गयी है जो किसी धर्म के मूल्यों के प्रभुत्व में उदारता, सेकुलरवाद और समता के विचार का उपकरण के तौर पर इस्तेमाल करती हो।'

इस धारणा का परिणाम यह हुआ है कि बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श के मुखर पक्ष ने कभी हिंदू एकता के संघ-पूर्व विमर्श— दयानंद और विवेकानंद आदि के चिंतन से उद्‌भूत सामाजिक-वैचारिक सूत्रों पर ध्यान नहीं दिया। वह नहीं देख सका कि ये चिंतक धर्म और उसके सामाजिक ढाँचे को अक्षुण्ण रखते हुए समाज व्यवस्था और उसकी संस्थाओं में संशोधन की ज़मीन तैयार कर रहे थे। इस धारणा के अंतर्सूत्रों की एक दूसरी और ज़्यादा सामयिक समस्या की ओर इशारा करते हुए लेखक बिजली की कौंध सरीखी दलील पेश करता है कि मध्यमार्गी विमर्श के मुखर सिद्धांतकारों का संघ परिवार की राजनीति का विश्लेषण सातवें दशक से आगे नहीं देख पाता। लेखक ने निस्संकोच कहा है कि इन सिद्धांतकारों को हिंदुत्व के उन सामाजिक-राजनीतिक सूत्रीकरणों की कोई ख़ास ख़बर नहीं है जो उसने सातवें दशक के बाद तैयार किये हैं।

II

जैसा कि हमने शुरू में इंगित किया था, लेखक का मानना है कि मध्यमार्गी विमर्श के आधिकारिक संस्करण ने अपने समांतर चलने वाले एक ज़्यादा ज़मीनी और यथार्थ-सजग हिस्से को हमेशा चर्चा से बाहर रखा है, जबकि हिंदू बहुसंख्यकवाद के उभार के संदर्भ में यह हिस्सा समाज और राजनीति के नये विन्यास की ओर इशारा करता है। लेखक ने यहाँ उचित ही आगाह कर दिया है कि मध्यमार्गी विमर्श का यह मौन पक्ष उसके मुखर पक्ष का विलोम नहीं है। यह पक्ष भारतीय राजनीति, समाज, संस्कृति और इतिहास की ज्वलंत बहसों को अलग नज़रिये से देखता रहा है।

मसलन, यह नज़रिया बताता है कि जिस मनुवादी व्यवस्था को मध्यमार्गी विमर्श हिंदुत्व की केंद्रीय परियोजना मानता है, उसे सरसंघचालक बालासाहब देवरस ने 1974 में यह कहते हुए ख़ारिज कर दिया था कि 'जन्मत: वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-व्यवस्था का भाव समाप्त हो गया, ढाँचा रह गया। अत: सभी को मिल कर सोचना चाहिए कि जिसका समापन होना उचित है, जो स्वयं ही समाप्त हो रहा है, वह ठीक ढंग से कैसे समाप्त हो।' इससे यह भी पता चलता है कि संघ हिंदू समाज में बिना कोई रैडिकल बदलाव किये व्यापक एकता की सफल योजनाएँ बनाता रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि मध्यमार्गी विमर्श का मुखर पक्ष हिंदू धर्म के उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उभरते ग्रहणशील, समावेशी और सहिष्णु पाठ के साथ न केवल रचनात्मक संवाद करने से बचता रहा, बल्कि उसने इसे एक प्राच्यवादी निर्मिति घोषित करके ब्राह्मणवाद की लांछित श्रेणी में डाल दिया। इसका परिणाम यह हुआ वह केवल हिंदू राष्ट्रवादियों के इस्तेमाल की चीज़ बन कर रह गया।

दूसरे, वह उन अलक्षित रह जाने वाली प्रक्रियाओं और घटना-क्रमों की ओर संकेत करता है जिनके चलते यह हिंदू पहचान उत्तरोत्तर मज़बूत होती गयी है। इस संबंध में औपनिवेशिक जनगणना, प्रतिनिधित्वमूलक राजनीति तथा आज़ादी के बाद संस्थापित किये गये क़ानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। क्रमश: बात करें तो औपनिवेशिक सत्ता द्वारा जनगणना के निर्णय ने हिंदू समुदाय के ढीले-ढाले आत्म-बोध को समरूपीकरण की दिशा में प्रवृत्त कर दिया। चूँकि औपनिवेशिक शासन प्राच्यवाद द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों की रोशनी में काम कर रहा था, इसलिए वह जनगणना के आँकड़ों को हिंदू धर्म की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में फ़िट करना चाहता था। जनगणना अधिकारियों को इस मिशन में लम्बे समय तक सफलता नहीं मिली, क्योंकि ज़्यादातर लोगों को अपने वर्ण के बारे में सटीक जानकारी ही नहीं थी। लेकिन, एक बार जब यह तय हो गया कि जातियों और समुदायों को एक निश्चित पदानुक्रम में रखा जाएगा तो लोगों में सामाजिक हैसियत का सवाल महत्त्वपूर्ण हो गया। यादव और कुर्मी जैसी किसान जातियाँ क्षत्रिय वर्ण की दावेदारी करने लगीं। आगे चल कर जब औपनिवेशिक सत्ता ने प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अंतर्गत भारत के लोगों को सरकार के ढाँचे में शामिल करने का निर्णय लिया तो उसने हिंदू समुदाय को प्रकारांतर से यह भी जतला दिया कि उसकी राजनीति मुसलमानों की राजनीति से केवल अलग ही नहीं, बल्कि उनकी प्रातिनिधिक राजनीति की काट करके ही आगे बढ़ सकती है। हिंदू समुदाय के समरूपीकरण की प्रक्रिया में यह एक अहम मुक़ाम था।

समरूपीकरण में बहुसंख्यकवाद का अंदेशा अंतर्निहित होता है। इस पहलू की चर्चा करते हुए लेखक ने दर्शाया है कि हिंदू बहुमत के आग्रह को मज़बूत करने में उत्तर-औपनिवेशिक क़ानूनों की ख़ास भूमिका रही है। यानी दूसरे शब्दों में कहें तो बहुंख्यकवाद की ज़मीन तैयार करने में हमारे उदारतावादी लोकतंत्र का अदृश्य हाथ रहा है। लेखक समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता के हवाले से बताते हैं कि हिंदू 'बहुमत' आज़ादी के बाद बने क़ानूनों की देन है। इनके पहले विवाह, उत्तराधिकार और अभिभावकत्व के नियमों में एकरूपता नहीं थी। अगर एक स्थान और समुदाय में उत्तराधिकार के नियम मिताक्षरा प्रणाली के तहत आते थे तो दूसरे स्थान और समुदाय में दायभाग के नियम चलते थे। लेकिन नये क़ानूनों ने विभिन्न रीति-नीतियों पर पाटा फेर कर उन्हें एकरूप बना दिया। इसी तरह लेखक ने भारत के पहले क़ानून मंत्री डॉ. आम्बेडकर और सरदार हुकुम सिंह के बीच हुई बहस का हवाला दे कर यह दिखाया है कि हिंदू विवाह क़ानून के कारण दो तरह के हिंदुओं की श्रेणियाँ सामने आ गयीं। एक वे जो हिंदू घर में पैदा होने के कारण हिंदू थे, और दूसरे वे जो सिख, बौद्ध और जैसे अल्पसंख्यक धर्मों में पैदा होने के बावजूद इस विवाह क़ानून के कारण 'लीगली हिंदू' बन गये थे। इस सेकुलर और क़ानूनी घटनाक्रम का कुल मिला कर अनभिप्रेत नतीजा यह निकला कि सावरकर द्वारा प्रतिपादित 'पुण्य भूमि' के दायरे में आने वाले सभी धर्म हिंदू विवाह क़ानून के तहत आ कर आपस में स्वाभाविक रूप से जुड़ गये।

उत्तर-औपनिवेशिक क़ानूनों तथा हिंदू समुदाय में प्रबल होती एकरूपता की इस प्रक्रिया के विश्लेषण में लेखक ने रत्ना कपूर के अध्ययन का हवाला दिया है। इस विश्लेषण से पता चलता है कि उच्च न्यायालयों सहित सर्वोच्च न्यायालय भी हिंदू धर्म को एक समरूप और शास्त्रोक्त संहिता के तौर पर परिभाषित करता रहा है। अयोध्या विवाद तक आते-आते तो यह प्रक्रिया इतनी सहज मान ली गयी थी कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फ़ैसले में 'हिंदुत्व' और 'हिंदू धर्म' को एक-दूसरे का समानार्थी ही ठहरा दिया। ग़ौरतलब है कि अयोध्या मामले में न्यायालय ने हिंदुत्ववादी पक्ष का यह तर्क स्वीकार कर लिया था कि हिंदुओं की धार्मिक स्वतंत्रता सिर्फ़ उपासना की व्यक्तिगत स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें किसी स्थान पर सामूहिक रूप से पूजा करने का अधिकार भी शामिल है। आज जब हम इन घटनाओं को पलट कर देखते हैं तो हैरानी होती है कि यह सब खुले तौर पर हो रहा था, लेकिन मध्यमार्गी विमर्श का मुखर हिस्सा इस प्रवृत्ति से वाकिफ़ होने के बावजूद उसे न

अपने प्रतिरोध की दलीलों में शामिल कर पाया, और न ही उसका प्रतिवाद करने की नीति बना पाया।

किताब में मध्यमार्गी विमर्श के मौन पक्ष का खुलासा करते हुए कहा गया है कि रजनी कोठारी जैसे विद्वानों ने हिंदू बहुसंख्यकवाद की आहट आज से तीन दशक पहले ही सुन ली थी। 1985 में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने यह साफ़ तौर पर दर्ज किया था कि हमारी राजनीति एक चुनावी खेल में अवमूल्यित कर दी गयी है और इस प्रवृत्ति ने लोकतंत्र को साम्प्रदायिक बहुसंख्यकवाद में बदल दिया है। इस लेख में उन्होंने उन विकृतियों— राज्य और नागरिक समाज के बीच मौजूद मध्यवर्ती व राजकीय संस्थाओं की अनदेखी करके सीधे जनता से अपील करने, सर्वोच्च नेता पर ज़ोर देने, राजनीतिक प्रक्रियाओं और संहिताओं के बजाय चुनावी विजय को सर्वोपरि समझने तथा राजनीतिक दलों को व्यापक सामाजिक-आर्थिक बदलाव का साधन न मानकर सत्ता तक पहुँचने का औज़ार मान लेने की मानसिकता का विस्तृत विश्लेषण किया था। कोठारी ने यह भी कहा था कि चुनावों को संख्या के खेल में अपघटित करने के परिणाम फ़ौरन प्रकट नहीं हुए क्योंकि उन्हें जाति और क्षेत्र के मुहावरे में पेश किया जाता रहा। सूत्र रूप में कहा जाए तो कोठारी इस नतीजे तक पहुँच गये थे कि चुनाव आधारित राजनीति में बहुसंख्यकवाद एक दुर्दम परिघटना बन चुकी है जिस पर न भारतीय समाज की बहुलताओं का वश चलता है, न लोकतंत्र का। ग़ौरतलब है कि यह वह दौर था जब कांग्रेस अपनी सत्ता के शीर्ष पर थी। उसे अभूतपूर्व बहुमत मिला था। लेकिन इसी समय हिंदूवादी संगठन भी अपनी सुप्तावस्था से बाहर आ रहे थे।

लेकिन यहाँ लेखक रजनी कोठारी के उक्त सूत्रीकरण के बरअक्स उन्हीं के द्वारा किये गये उस सूत्रीकरण को प्रश्नांकित करते हैं जिसमें उन्होंने नवें दशक के दौरान पिछड़ी और दलित जातियों द्वारा पेश की गयी सत्ता की दावेदारी को भारतीय लोकतंत्र की सकारात्मक ऊर्जा के रूप में चिह्नित किया था। लेखक के अनुसार यह एक ऐसा विमर्श था जो द्विज जातियों को साम्प्रदायिक और कमज़ोर जातियों को धर्मनिरपेक्षता का वाहक घोषित कर रहा था। मध्यमार्गी विमर्श के इस मुखर हिस्से की बुनियादी ख़ामी यह थी कि उसने बिना जाँच-पड़ताल किये ही यह मान लिया कि दलित-पिछड़ी जातियों का गठजोड़ हिंदू बहुसंख्यकता के आग्रहों को स्वयं परास्त कर देगा, जबकि धीरे-धीरे यह बात साफ़ होती गयी कि दलित और पिछड़ी जातियों की यह गोलबंदी पूरे दलित या पिछड़े समुदायों की गोलबंदी न होकर दलितों और पिछड़ों के सबसे प्रभावशाली जाति-समूहों की गोलबंदी थी। जब ये जाति-समूह सत्तारूढ़ हुए तो उन्होंने संख्यात्मक तथा आर्थिक-सामाजिक स्थिति के हिसाब से कमतर माने जानेवाले अन्य जाति-समूहों को हाशिये पर ठेल दिया।

कहना न होगा कि वंचित समुदायों के दूरगामी सशक्तीकरण और उनकी मुक्ति की सम्भावनाओं से लैस सामाजिक न्याय जैसी अवधारणा का जैसा अवमूल्यन इस राजनीतिक नेतृत्व ने गठजोड़ के तौर पर या स्वतंत्र रूप से किया है, वह पिछले तीन दशकों की राजनीति का सबसे स्याह पक्ष है। लेखक के मुताबिक़ इस नेतृत्व से उम्मीद की जाती थी कि वह 'राजनीति की नयी भाषा' गढ़ेगा और 'नयी संस्थागत राजनीति की गुंजाइश' खोलेगा, लेकिन अपने भ्रष्टाचार और सिद्धांतहीनता के कारण सामाजिक न्याय की पूरी राजनीति दो हिस्सों में बँट कर रह गयी, जिनमें एक ताक़तवर हिस्सा मुसलमान वोटरों को साथ लेकर सेकुलर राजनीति का स्वाँग करता रहा, जबकि दूसरा हिस्सा राजनीतिक प्रतिनिधित्व और आर्थिक अवसरों, दोनों से वंचित रह गया। ज़ाहिर है कि मध्यमार्गी विमर्श के मुखर हिस्से पर यह आरोप ग़लत नहीं है कि उसने इस विपर्यय पर समय रहते अँगुली नहीं रखी। इस प्रसंग में लेखक ने यह भी रेखांकित किया है कि सामाजिक न्याय की राजनीति का द्विभाजन जाति के स्तर पर भी जारी रहा। सामाजिक न्याय का दलित घटक अपने इस सिद्धांत को इच्छा की तरह देखता रहा कि पिछड़े वर्गों को भी उसकी मुहिम में शामिल हो जाना चाहिए, जबकि सच्चाई यह है कि पिछड़े समुदायों की ताक़तवर जातियों को दलित राजनीति से जुड़ने में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

लेखक ने यहाँ पूरी सतर्कता से दिखाया है कि जिस तरह मुखर पक्ष ने दलितों और पिछड़े वर्गों के अंदरूनी विभाजनों को देखने से इंकार किया, उसी तरह मुस्लिम समाज में व्याप्त ऊँच-नीच का भी यथातथ्य विश्लेषण नहीं किया। वह मुस्लिम समाज की निचली जातियों के राजनीतिक सशक्तीकरण की मुहिम— पसमांदा आंदोलन की अपनी अटारी पर खड़े होकर तो तारीफ़ करता रहा लेकिन उसने इस आंदोलन के ज़रिये कभी मुस्लिम समाज की ज़मीनी आलोचना विकसित करने की कोशिश नहीं की।

मौन-विमर्श के इस विश्लेषण में लेखक ने भारतीय राजनीति की एक अत्यंत ज्वलंत अवधारणा— सेकुलरवाद के व्यावहारिक फलितार्थों की भी शिनाख़्त की है। इस संबंध में उन्होंने हमारे समय के दो प्रखर राजनीतिक विचारकों— धीरूभाई शेठ और राजीव भार्गव के हालिया कृतित्व को उद्धृत किया है। उल्लेखनीय है कि धीरूभाई शेठ कभी भी मध्यमार्गी विमर्श के औपचारिक पैरोकार नहीं रहे हैं। भारतीय राजनीति में बहुसंख्यकवाद के अंदेशों, अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकारों, लोकतंत्र में समुदायगत पहचान, व्यक्ति की स्वतंत्रता के टकराव, सेकुलरवाद और बहुलतावाद के घालमेल को वे अलग नज़रिये से देखते रहे हैं।

हिंदुत्ववादी राजनीति की उग्रता और उसकी बढ़ती स्वीकार्यता को धीरूभाई सेकुलर विमर्श की संकीर्णता का परिणाम मानते हैं। उनका मानना है कि पिछले तीन दशकों के दौरान सेकुलर विमर्श मुख्यत: एक चुनावी गतिविधि बन कर रह गया है। उसने हिंदुत्व के विरोध और अल्पसंख्यकों के समर्थन में जो भी व्यूह-रचना बनाई, वह प्रति-साम्प्रदायिक पदावली में सिमट कर रह गयी। यह प्रति-विमर्श भाजपा को जब तब चुनावों में तो हराता रहा, पर वह उस राष्ट्रीय-सेकुलर स्पेस में वापसी नहीं कर पाया जहाँ हिंदू राष्ट्रवाद से लोहा लेने की सम्भावना मौजूद थी। धीरूभाई इस प्रति-विमर्श की कमज़ोरी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अगर उसने भाजपा के छद्म-सेकुलरवाद के आरोप का सामने आ कर मुक़ाबला किया होता और उसे अपने कथित सच्चे सेकुलरवाद की दावेदारी साबित करने की चुनौती दी होती तो 'सेकुलर' दल सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सेकुलर और राष्ट्र-विरोधी चरित्र की बात जनता तक ले जाने में सफल हो सकते थे।

भारतीय सेकुलरवाद की संरचना, उसके अंतर्निहित उद्देश्य तथा उसके क्रियात्मक रूप पर राजनीतिक सिद्धांतकार राजीव भार्गव का चिंतन प्रचलित फ़ारमूलों से हमेशा अलग रहा है। बाक़ी उदारतावादी चिंतकों की तरह नवें दशक के दौरान राजीव भार्गव भी यही मानते थे कि अंतत: संविधान का बहुलतावादी और समावेशी स्वरूप हिंदुत्ववादी शक्तियों की उग्रता और उसके अतिवाद को नियंत्रित कर लेगा। लेकिन, अपने हालिया लेखन में उन्होंने भारतीय सेकुलरवाद के सत्य और उसकी प्रतीति का बेजोड़ विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि सेकुलरवाद का मूल संकट यह है कि सार्वजनिक चेतना में वह महज़ एक धर्म-विरोधी प्रत्यय बन कर रह गया क्योंकि बहुसंख्यकों के मामले में तो उसके प्रस्तोताओं ने समुदायवादी और सम्प्रदायवादी का फ़र्क़ ख़त्म कर दिया, लेकिन अल्पसंख्यक समुदायों की साम्प्रदायिक गतिविधियों के प्रति उनका रवैया नरम बना रहा। अंतत: यह एक ऐसी विसंगति साबित हुई जिसके चलते जनमानस का ध्यान इस तरफ़ गया ही नहीं कि अपने एक अन्य गहरे अर्थ में सेकुलरवाद धर्म के भीतर एक समूह द्वारा दूसरे समूह के शोषण या दमन का निषेध भी करता है।

III

यह किताब सेकुलर, वामपंथी, उदारतावादी और बहुजनवादी खित्तों के विमर्शकारों और समर्थकों को नाराज़ कर सकती है। पाठक को मध्यमार्गीय विमर्श का यह विवेचन एक सीमा के बाद आंतरिक आलोचना के बजाय कुछ-कुछ भर्त्सना जैसा भी लग सकता है। इसका एहसास लेखक को भी है कि 'चूँकि इस प्रक्रिया में स्वाभाविक तौर पर संघ-विरोधी विमर्श की स्थापित संरचनाओं की बुनियादी

ख़ामियाँ उभर कर आएँगी, इसलिए ज्ञान की विवादात्मक राजनीति के तहत मुझ पर हिंदुत्ववादी परियोजना के एक नये प्रच्छन्न समर्थक होने का आरोप लगाया जा सकता है।'

अपने-अपने वैचारिक शिविरों के पहचान-पत्र लेकर चलने वाले लोगों को लेखक का तार्किक परिप्रेक्ष्य निस्संदेह बहुत निष्ठुर और आक्रामक लग सकता है। यह बेचैनी तब और तेज़तर हो जाती है जब लेखक मध्यमार्गी विमर्श के दशकों से प्रचलित-परिचित सूत्रों को अपने तर्कों और तथ्यों से छिन्न-भिन्न कर डालता है। इस अर्थ में यह किताब भारतीय इतिहास, संस्कृति, समाज और राजनीति से बावस्ता उन धारणाओं और परिप्रेक्ष्यों को अस्थिर कर देती है जिन्हें हम स्कूली पाठ्यक्रम से लेकर उच्च शिक्षा तक पढ़ते-समझते और साझा करते रहे हैं।

ऐसे में, इस किताब को पढ़ने के लिए ख़ास तरह का बौद्धिक धैर्य चाहिए। यह धैर्य पाठक से सायास-अनायास अर्जित की गयी अवधारणाओं, मान्यताओं, वैचारिक पदों और श्रेणियों पर पुनर्विचार करने की माँग करता है। यहाँ शायद अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस वैचारिक तैयारी में यह सजगता भी शामिल है कि कोई भी विमर्श अपने समय के समग्र यथार्थ का पर्याय न होकर उसका संकेतक होता है। चूँकि यथार्थ के नियामक तत्त्व हमेशा परिवर्तनशील होते हैं, इसलिए विमर्श की प्रासंगिकता और उसके औचित्य का पुनर्मूल्यांकन सतत रूप से जारी रहना चाहिए। 'मध्यमार्गी विमर्श' की पड़ताल के ज़रिये यह किताब ठीक यही काम करती है। सजग पाठकों और गम्भीर अध्येताओं के लिए यहाँ प्रतिस्पर्धी संदर्भों और विमर्शों का एक अभूतपूर्व स्रोत है। इस मायने में यह किताब अपने पाठकों को 'शिक्षित' भी करती है।

लेकिन, अकादमिक संदर्भों और विमर्शों के लगभग विस्मित कर देने वाले सार-संक्षेपण तथा द्वितीयक स्रोतों के उत्कृष्ट उपयोग के बावजूद ऐसा लगता है कि किताब में परिकल्पना और प्रस्थापना के स्तर पर कुछ ज़रूरी चीज़ें अलक्षित अथवा अपूर्ण रह गयी हैं। इस संबंध में तीन बिंदु ख़ास तौर पर ध्यान खींचते हैं।

पहला, किताब में रजनी कोठारी के हवाले से यह तो बख़ूबी दर्शाया गया है कि भारतीय राजनीति में हिंदू बहुसंख्यकवाद की प्रवृत्ति सातवें दशक के आरम्भ में ही प्रकट होने लगी थी, लेकिन एक परिघटना के तौर पर लेखक ने इसका जिस तरह विश्लेषण किया है उसमें एकरैखिकता और मात्रात्मकता का भाव ज़्यादा प्रबल दिखाई देता है। इस बात को थोड़ा खोल कर कहें तो ऐसा लगता है कि जैसे पाँच दशक पहले उभरी यह प्रवृत्ति अपने किसी अंतर्निहित तर्क के कारण समय के साथ मज़बूत होती गयी और अंततः इतनी ताक़तवर हो गयी कि उसने हमारे लोकतंत्र को अपने बाहुपाश में जकड़ लिया। इस संबंध में हमारा मानना है कि भारतीय राजनीति और जन-जीवन में नब्बे की दहाई को एक विभाजक चिह्न की तरह देखा जाना चाहिए। यह एक ऐसा दौर था जिसमें आठवें दशक की शुरुआत में खुलने वाली उदारतावादी अर्थव्यवस्था की खिड़की मुख्यद्वार बनने की हैसियत में आने लगी थी। इस नयी अर्थव्यवस्था के भीतर से एक नया मध्यवर्ग तथा सूचना-तकनीकी का एक अभूतपूर्व संसार जन्म ले रहा था। ज़ाहिर है कि हिंदू बहुसंख्यकवाद की गति और उसके चरित्र को इन संरचनात्मक बदलावों के समुच्चय के साथ रख कर भी देखा जाना चाहिए। इस मामले में कतिपय विद्वानों ने हिंदू बहुसंख्यकवाद की कुछ ऐसी मोर्चेबंदियों की ओर इशारा किया है जिनकी ओर आमतौर पर कम ध्यान जाता है। मसलन, लीला फ़र्नांडीज़ बताती हैं कि पिछली सदी के आठवें दशक तक मध्यवर्ग की नयी पीढ़ी अपने विशिष्ट हितों की राजनीति करने लगी थी। उसकी यह राजनीति इस शिकायत पर आधारित थी कि 'मुसलमानों तथा नीची जातियों जैसे दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों को ज़्यादा तवज्जो देने के कारण भारतीय लोकतंत्र दूषित हो गया है।'[1]

---

[1] लीला फर्नांडीज़ (2006) : 177.

मध्यवर्ग की नयी पीढ़ी इस राजनीतिक प्रदूषण के लिए भारत में सबसे लम्बे समय तक सत्तारूढ़ रही कांग्रेस को ज़िम्मेदार मानती थी। लिहाज़ा भविष्य की राजनीति को यह वर्ग एक ऐसे मुक़ाम की ओर ले जाने की कोशिश में था जहाँ उसे अधीनस्थ वर्गों— क्षेत्रीय दलों की प्रतिस्पर्धी राजनीति का मुक़ाबला न करना पड़े। उल्लेखनीय है कि राजनीतिक सत्ता पर अधीनस्थ वर्गों के तथाकथित क़ब्ज़े के बावजूद मध्यवर्ग के सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व में कोई कमी नहीं आयी थी क्योंकि उसके पास ग़ैर-चुनावी रणनीतियों का एक बड़ा जख़ीरा मौजूद था। वह औपचारिक प्रक्रियाओं से बचने की तरक़ीब जानता था तथा नीतिगत एजेंडे को अपने अनुसार प्रभावित करने और इस तरह राज्य की सत्ता तक पहुँचने के लिए गलियारा बनाने की क्षमता रखता था। इस दौरान अपनी राजनीतिक दावेदारी के लिए उसने एक महीन विमर्श तैयार किया जो एक तरफ़ क़ानून की सुचारु व्यवस्था और राजनीतिक मर्यादा आदि की भाषा में बात करता था तो दूसरी तरफ़ उपभोक्ता-नागरिक की एक नयी छवि गढ़ रहा था।[2] उसकी यह दावेदारी राजनीति के राष्ट्रवादी संस्करण में ही सफल हो सकती थी। समकालीन इतिहास में यही वह क्षण है जब मध्यवर्ग ने भाजपा की ओर रुख किया। यह बात चुनावी-अध्ययनों से भी सिद्ध होती है कि मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा नवें दशक के दौरान ही भाजपा का समर्थन करने लगा था। इसी अवधि में मध्यवर्ग की ऊँची जातियों का मत-प्रतिशत लगभग नियमित रूप से भाजपा के पक्ष में बढ़ता चला गया।[3] चूँकि अपनी इस राजनीतिक दावेदारी को मध्यवर्ग सत्ता के नियंत्रण की परियोजना का नाम नहीं दे सकता था इसलिए राज्य द्वारा सार्वजनिक कल्याण के दायित्वों से मुँह फेरने की इस क़वायद को राष्ट्रीय रूपांतरण जैसी सांस्कृतिक शब्दावली में व्यक्त किया गया।

संक्षेप में, नवें दशक की इस अवधि में मध्यवर्ग, हिंदू बहुसंख्यकवादी राजनीति तथा नयी अर्थव्यवस्था के बीच एक व्यापक गठजोड़ तैयार हुआ। गोपालकृष्णन अपने एक लेख में कहते हैं कि हिंदुत्व और नव-उदारतावाद की इस जुगलबंदी की सफलता तीन राजनीतिक लक्ष्यों पर निर्भर करती थी : पहले, समाज को आंतरिक द्वंद्वों से रहित एक इकहरी संरचना के रूप में परिभाषित करना; दूसरे, सामाजिक गतिशीलता को व्यक्तिनिष्ठ संदर्भ में पुनर्परिभाषित करना तथा राजनीति की प्रक्रिया में राज्य को उसकी केंद्रीयता से च्युत करना।[4] इस संदर्भ में यह याद करना अप्रासंगिक न होगा कि बहुसंख्यकवाद के समर्थक हिंदू धर्म की एक संहिताबद्ध समझ और समाज को एक इकहरी, सपाट और निर्द्वंद्व इकाई की तरह देखना चाहते हैं, क्योंकि समाज में आंतरिक विभाजन और विषमता का तथ्य स्वीकार करने से उनके वर्चस्व की लड़ाई कमज़ोर पड़ने लगती है। हमारा कहना है कि समाज को एक इकहरी संरचना के तौर पर देखना दरअसल हिंदू समाज तथा स्वयं मध्यवर्ग के स्तरीकरण से निकली विषमताओं का प्रबंधन करना भी है। हिंदू बहुसंख्यकवाद और मध्यवर्ग का दोतरफ़ा संबंध इसी बिंदु से उभरता है। और यहीं से हिंदू मध्यवर्ग हिंदुत्व की वैचारिक पीठिका आत्मसात् करके ख़ुद को अधीनस्थ वर्गों के समक्ष एक वांछनीय और व्यावहारिक आदर्श के तौर पर प्रस्तुत करने में सफल होता है।

दूसरे, इस किताब में हिंदू बहुसंख्यकवाद का विश्लेषण मुख्यत: राजनीति के मौजूदा मुक़ाम पर आ कर रुक जाता है। लेखक ने बेशक आख़िर में इस बहुसंख्यकवाद की व्यूह-रचना के विभिन्न स्तरों और तौर-तरीक़ों तथा उसकी सफलता के कारणों का समाहार करते हुए इस तथ्य की सटीक निशानदेही की है कि भविष्य में भाजपा की किसी चुनावी पराजय को बहुसंख्यकवाद की पराजय नहीं माना जा सकता। अपने इस निष्कर्ष के आसपास उन्होंने बहुसंख्यकवाद की चालक-शक्ति के रूप में 'नव-हिंदुत्ववादी विमर्श' को चिह्नित किया है। ज़ाहिर है कि इस महीन अंतर्दृष्टि के बाद

---

[2] वही : 179.

[3] योगेंद्र यादव, संजय कुमार और ऑलिवर हीथ (1999).

[4] शंकर गोपालकृष्णन (2006) : 2806.

लेखक से इस नुक़्ते पर भी विचार करने की उम्मीद की जाती है कि अपनी कामयाबी का मौजूदा दौर गुज़रने के बाद हिंदू बहुसंख्यकवाद किस करवट बैठेगा या एक देश के रूप में भारत की संकल्पना को किस तरह प्रभावित अथवा क्षतिग्रस्त करेगा। लेकिन, जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया है, यह विश्लेषण बहुसंख्यकवाद को मिलने वाली चुनौतियों के सम्भावित स्रोतों तथा उसका वर्चस्व बने रहने की स्थिति में उसके अंतर्निहित और भावी ख़तरों की ओर बढ़ने से पहले ही ख़त्म हो जाता है। ख़ैर, इस सिलसिले में फ़ौरी तौर पर दो-तीन बातें कही जा सकती हैं। ग़ौरतलब है कि नव-हिंदुत्ववादी विमर्श के व्यापक क्षैतिज प्रसार के बावजूद हिंदू-एकता मुख्यत: एक चुनावी पेशबंदी है। लेखक ने ख़ुद ही इस तथ्य का खुलासा किया है कि यह पेशबंदी फ़िलहाल इसलिए कारगर है, क्योंकि भाजपा पिछड़ी जातियों में ग़ैर-यादव तथा दलितों में ग़ैर-जाटव जातियों के साथ गठजोड़ बनाने में सफल रही है। चूँकि इस गठजोड़ में इन जातियों की सामाजिक हैसियत में किसी ऊर्ध्वाधर प्रगति की गारंटी शामिल नहीं है, इसलिए उसकी वैधता और अवधि चुनावी क़रार में तय किये गये लाभों पर निर्भर करती है। इसके अलावा इस बहुसंख्यकवाद के सामने दूसरी चुनौती यह है कि चुनावी राजनीति में संख्या के हिसाब से यादव और जाटव जैसे दो विशाल धड़ों को स्थायी रूप से हाशिये पर रखने की रणनीति बहुत लम्बे समय तक कारगर नहीं हो सकती। इसलिए हिंदू बहुसंख्यकता के केंद्र में स्थित इस हिंदू-एकता को बहुत दीर्घकालिक नहीं माना जा सकता।

तीसरे, किताब में विवेचन की अपूर्णता अल्पसंख्यक प्रकरण के संबंध में ज़्यादा लक्षित होती है। लेखक ने यह ठीक कहा है कि मध्यमार्गी विमर्श न तो मुसलमान समुदाय पर थोपी गयी समरूप राजनीतिक पहचान की काट ढूँढ़ पाया है, और न ही उसके अतिवाद के प्रति साफ़ और समझौता विहीन रुख़ विकसित कर पाया है। मुसलमान समुदाय की यहाँ इस बात के लिए भी आलोचना की गयी है कि देश का सबसे बड़ा और राजनीतिकृत समुदाय होने के बावजूद वह अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति निपट उदासीनता दिखाता रहा है। लेकिन, इस संदर्भ में जब लेखक मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के बीच सकारात्मक राजनीतिक-संस्थागत संबंधों की सम्भावना तलाश करने की बात करता है तो वह वक्तव्य से आगे नहीं बढ़ पाती। दरअसल, यह एक बेहद जटिल मसला है, और इस पर विचार करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा राजनीति में ली जाने वाली किसी भी पहलक़दमी को अमूमन शक की निगाह से देखा जाता है। जैसा कि पॉल ब्रास ने साम्प्रदायिक दंगों से संबंधित अपने अध्ययन में दर्शाया है, मुसलमान समुदाय के ख़िलाफ़ पूर्वाग्रह गढ़ने और अफ़वाह फैलाने

> चूँकि यह किताब एक तरह से हिंदू बहुसंख्यकवाद के वर्तमान पर आकर रुक जाती है, इसलिए यहाँ उसके उभार के अन्यान्य कारणों का विवरण-विश्लेषण तो मिलता है, लेकिन उसके भविष्यगत परिणामों की चर्चा अधूरी छूट जाती है। अपनी चक्रवर्ती सफलता के इस क्षण में हिंदू बहुसंख्यकवाद इतना अपराजेय नज़र आता है कि एकाधिक अध्येता उसे एक दीर्घगामी मॉडल की तरह देखने लगे हैं। लेकिन, कहना न होगा कि अपनी चुनावी इंजीनियरिंग और प्रचार की बेहद प्रभावशाली मशीनरी के बावजूद वह मुसलमान समुदाय को स्थायी रूप से ख़ामोश नहीं रख सकता। संख्याबल के हिसाब से इतने विशाल समूह को केवल सर्वसत्तावाद के बल पर ही नियंत्रित किया जा सकता है। और तब भी वह इस योजना में लम्बे समय तक सफल नहीं रह सकता।

का काम बड़े ही क्रमबद्ध तरीक़े से किया जाता है।[5] यह दुष्चक्र एक संस्थात्मक रूप ले चुका है। पिछले एक दशक में सोशल मीडिया के व्यापक प्रसार और उपलब्धता के बाद मुस्लिम-विद्वेष का पुनरुत्पादन पहले से कहीं ज़्यादा नियमित हो चला है। चूँकि यह किताब एक तरह से हिंदू बहुसंख्यकवाद के वर्तमान पर आकर रुक जाती है, इसलिए यहाँ उसके उभार के अन्यान्य कारणों का विवरण-विश्लेषण तो मिलता है, लेकिन उसके भविष्यगत परिणामों की चर्चा अधूरी छूट जाती है। अपनी चक्रवर्ती सफलता के इस क्षण में हिंदू बहुसंख्यकवाद इतना अपराजेय नज़र आता है कि एकाधिक अध्येता उसे एक दीर्घगामी मॉडल की तरह देखने लगे हैं। लेकिन, कहना न होगा कि अपनी चुनावी इंजीनियरिंग और प्रचार की बेहद प्रभावशाली मशीनरी के बावजूद वह मुसलमान समुदाय को स्थायी रूप से ख़ामोश नहीं रख सकता। संख्याबल के हिसाब से इतने विशाल समूह को केवल सर्वसत्तावाद के बल पर ही नियंत्रित किया जा सकता है। और तब भी वह इस योजना में लम्बे समय तक सफल नहीं रह सकता। मसलन, बीसवीं सदी में अल्पसंख्यक समूहों के विलोपन का सबसे नृशंस प्रयोग— नाज़ी शासन द्वारा यहूदियों के समूल उन्मूलन का अभियान यही दर्शाता है कि अंततः अत्यंत सर्वसत्तावादी शासन भी अपने अंतर्विरोधों के बोझ तले ढह जाता है। हमने यहाँ इस आत्यंतिक उदाहरण का उल्लेख इसलिए किया क्योंकि बहुसंख्यकवाद को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपने समर्थकों को निरंतर उग्र मनोदशा में रखना पड़ता है।

आख़िर में, चंद सतरें इस किताब की बनावट और प्रस्तुतीकरण के बारे में। यह रचना किताब की उस पारम्परिक सरंचना से एक अलग नवाचार है। किताब के रूप में यह एक लम्बा निबंध है। अधिकतर किताबों में पाठ-सामग्री अध्यायों में विन्यस्त रहती है, लिहाज़ा पाठक के पास यह निर्णय करने की स्वतंत्रता रहती है कि वह जहाँ-तहाँ नज़र डालते हुए किस अध्याय पर फ़ोकस करे। जबकि यह किताब पाठक से आद्योपांत पढ़े जाने की उम्मीद करती है क्योंकि यहाँ विषय के सूत्र इतने अंतर्ग्रंथित हैं कि उन्हें समग्रता में पढ़े बग़ैर इस लम्बे निबंध के उद्देश्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए, जल्दबाज़ी करने पर यह किताब बहुत से लोगों को पराजय से उपजी आत्मभर्त्सना भी लग सकती है।

संदर्भ

पॉल आर. ब्रास (2004), 'डिवेलपमेंट ऑफ़ ऐन इंस्टीट्यूशनलाइज़्ड रॉयट सिस्टम इन मेरठ, 1961 टू 1982', *इक्नॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 39.

योगेंद्र यादव, संजय कुमार तथा ऑलिवर हीथ (1999), 'द बीजेपीज़ न्यू सोशल ब्लॉक', *फ़्रंटलाइन,* 6-19 नवम्बर, 1999.

लीला फर्नांडीज़ (2006), *इण्डियाज़ न्यू मिडिल क्लासेज़ : डेमॉक्रैटिक पॉलिटिक्स इन ऐन इरा ऑफ़ रिफ़ॉर्म्स,* युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनिसोटा प्रेस, मिनिपॉलिस.

शंकर गोपालकृष्णन (2006), 'डिफ़ाइनिंग, कंस्ट्रक्टिंग ऐंड पॉलिसिंग अ 'न्यू इंडिया' : रिलेशनशिप बिटवीन नियोलिबरलिज़म ऐंड हिंदुत्व', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* ख़ण्ड 41, अंक 26.

---

[5] पॉल आर. ब्रास (2004).